साधक का साध्य-मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति का उपाय-साधन-योग है। आत्मा से परमात्मा के रूप में मिलन की प्रक्रिया (—योग) पर जैन मनीषियों के चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है।

□ विद्यामहोदधि डा० छगनलाल शास्त्री
[एम० ए०, हिन्दी, संस्कृत व जैनोलोजी, स्वर्णपदक समादृत, पी-एच० डी० काव्यतीर्थ]

जैन योग : उद्गम, विकास, विश्लेषण, तुलना

□

चरम ध्येय

भारतीय दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। दुःखों की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है। मोक्ष शब्द, जिसका अर्थ छुटकारा है, से यह स्पष्ट है। यदि गहराई में जायें तो इसकी व्याख्या में थोड़ा अन्तर भी रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। कुछ दार्शनिकों ने दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के स्थान पर शाश्वत तथा सहज सुख-लाभ को मोक्ष कहा है।

इस प्रकार के सुख की प्राप्ति होने पर दुःखों की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति स्वयं सध जाती है। वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग और बौद्ध दर्शन प्रथम पक्ष के समर्थक हैं और वेदान्त तथा जैन दर्शन दूसरे पक्ष के। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को सच्चिदानन्द-स्वरूप माना है, इसलिए अविद्यावच्छिन्न ब्रह्म-जीव में अविद्या के नाश द्वारा नित्य-सुख की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है। जैन दर्शन में भी आत्मा को अनन्त सुख-स्वरूप माना है, अतः स्वाभाविक सुख की अभिव्यक्ति ही उसका अभिप्रेत है, जो उसका मोक्ष के रूप में अन्तिम लक्ष्य है।

ध्येय : साधना-पथ

मोक्ष प्राप्ति के लिए विभिन्न दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से ज्ञान, चिन्तन, मनन, अनुशीलन, निदिध्यासन, तदनुकूल आचरण या साधना आदि के रूप में एक व्यवस्था-क्रम दिया है, जिसका अपना-अपना महत्त्व है। उनमें महर्षि पतञ्जलि का योग दर्शन एक ऐसा क्रम देता है, जिसकी साधना या अभ्यास-सरणि बहुत ही प्रेरक और उपयोगी है। यही कारण है, योग मार्ग को सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि के अतिरिक्त अन्यान्य दर्शनों ने भी बहुत कुछ स्वीकार किया है। यों कहना अतिरंजन नहीं होगा कि किसी न किसी रूप में सभी प्रकार के साधकों ने योग निरूपित अभ्यास का अपनी अपनी परम्परा, बुद्धि, रुचि और शक्ति के अनुरूप अनुसरण किया है, जो भारतीय संस्कृति और विचार-दर्शन के समन्वयमूलक झुकाव का परिचायक है।

जैन परम्परा और योग-साहित्य

भारतीय चिन्तन-धारा वैदिक, बौद्ध और जैन वाङ्मय की त्रिवेणी के रूप में बही है। वैदिक ऋषियों, बौद्ध-मनीषियों, जैन तीर्थंकरों और आचार्यों ने अपनी निःसंग साधना के फलस्वरूप ज्ञान के वे दिव्यरत्न दिये हैं, जिनकी आभा कभी धुंधली नहीं होगी। तीनों ही परम्पराओं में योग जैसे महत्त्वपूर्ण, व्यावहारिक और विकास-प्रक्रिया से सम्बद्ध विषय पर उत्कृष्ट कोटि का साहित्य रचा गया।

यद्यपि बौद्धों की धार्मिक भाषा पालि, जो मागधी प्राकृत का एक रूप है तथा जैनों की धार्मिक भाषा अर्द्ध-मागधी[1] और शौरसेनी[2] प्राकृत रही है पर दोनों का लगभग सारा का सारा दर्शन सम्बन्धी साहित्य संस्कृत में लिखा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। गम्भीरतापूर्ण विशाल भाव-राशि को संक्षिप्ततम शब्दावली में अत्यन्त स्पष्टता और प्रभावशालिता के साथ व्यक्त करने की संस्कृत की अपनी अनूठी क्षमता है। दोनों परम्पराओं में योग पर भी प्रायः अधिकांश रचनाएँ संस्कृत-भाषा में ही हुईं।

जैन योग पर लिखने वाले मुख्यतः चार आचार्य हैं—हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र और यशोविजय। ये चारों विभिन्न विषयों के प्रौढ़ विद्वान् थे, जो इन द्वारा रचित ग्रन्थों से प्रकट है।

आचार्य हरिभद्र (ई० ८वीं शती) ने योग पर संस्कृत में योगबिन्दु और योगदृष्टि समुच्चय, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र, आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव तथा उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्म-सार, अध्यात्मोपनिषद् व सटीक द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिकाओं की रचना की है। आचार्य हेमचन्द्र का समय ई० १२वीं शती है। आचार्य शुभचन्द्र भी इसी आसपास के हैं। उपाध्याय यशोविजय का समय १८वीं ई० शती है।

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत भाषा में भी योग पर योगशतक और योग विंशिका नामक दो पुस्तकें लिखीं। उनका संस्कृत में रचित षोडशक प्रकरण भी प्रसिद्ध है जिसके कई अध्यायों में उन्होंने योग के सम्बन्ध में विवेचन किया। उपाध्याय यशोविजय ने आचार्य हरिभद्र रचित योग विंशिका तथा षोडशक पर संस्कृत में टीकाएँ लिखकर प्राचीन गूढ़ तत्त्वों का बड़ा विशद विश्लेषण किया इतना ही नहीं उन्होंने पतञ्जलि के योगसूत्र पर भी एक छोटी-सी वृत्ति लिखी। कलेवर में छोटी होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है।

योगसार नामक एक और ग्रन्थ भी श्वेताम्बर जैन साहित्य में उपलब्ध है, जिसके रचयिता का उसमें उल्लेख नहीं है। उसमें प्रयुक्त दृष्टान्त आदि से अनुमित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के आधार पर ही किसी श्वेताम्बर जैन आचार्य ने उसकी रचना की हो।

जैन तत्त्वज्ञान का मुख्य स्रोत अर्द्धमागधी प्राकृत में ग्रथित अंग, उपांग, मूल, छेद, चूलिका एवं प्रकीर्णक सूत्र हैं।

इन आगम-सूत्रों पर प्राकृत तथा संस्कृत में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि के रूप में व्याख्या और विश्लेषणमूलक साहित्य निर्मित हुआ। संस्कृत-प्राकृत के मिश्रित रूप के प्रयोग की जैनों में विशेष परम्परा रही है, जिसे वे 'मणि-प्रवाल' न्याय के नाम से अभिहित करते हैं। आचार्य भूतबलि और पुष्पदत्त (लगभग प्रथम-द्वितीय शती) द्वारा रचित षट् खण्डागम पर ई० ८वीं ६वीं शती में वीरसेन और जिनसेन ने इसी शैली में (मणि-प्रवाल न्याय से) संस्कृत प्राकृत-मिश्रित धवला नामक अतिविशाल व्याख्या लिखी।

मूल आगम और उन पर रचित उपर्युक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि व्याख्या साहित्य में जैन दर्शन के विभिन्न अंगों पर हमें विशद और विस्तृत निरूपण उपलब्ध है। योग के सम्बन्ध में मूल आगमों में सामग्री तो प्राप्त है और पर्याप्त भी, पर है विकीर्णरूप में। व्याख्या-ग्रन्थों में यत्र-तत्र उसका विस्तार है, जो मननीय है। पर वह सामग्री क्रमबद्ध या व्यवस्थित नहीं है। जिस प्रसंग में जो विवेचन अपेक्षित हुआ, वह कर दिया गया और उसे वहीं छोड़ दिया गया।

ई० ६ठी ७वीं शती में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण एक बहुत ही समर्थ और आगम-कुशल विद्वान हुए। उनका 'विशेषावश्यक भाष्य' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। उसमें अनेक स्थानों पर योग सम्बन्धी विषयों का विवेचन है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की 'समाधि-शतक' नामक एक और पुस्तक भी है, जो योग से सम्बद्ध है। पर उन्होंने आगम और निर्युक्ति आदि में वर्णित विषय से कुछ अधिक नहीं कहा है। शैली भी आगमिक जैसी है।

साधक-जीवन के लिए अत्यन्त अपेक्षित योग जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर जैन परम्परा में सबसे पहले व्यवस्थित रूप में सामग्री उपस्थित करने वाले आचार्य हरिभद्र सूरि हैं। जैन साधक के जीवन का मूल वैचारिक आधार जैन आगम हैं। आचार्य हरिभद्र ने जैन आगम-गत योग-विषयक तत्त्व तो दृष्टि में रखे ही, साथ ही साथ इस सम्बन्ध में अपना मौलिक चिन्तन भी दिया।

आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के माध्यम से वह परम्परा और आगे बढ़ी। इन दोनों आचार्यों के आदर्श एकमात्र आचार्य हरिभद्र नहीं थे। इनकी अपनी सरणि थी। फिर भी हरिभद्र के विचारों की जहाँ उन्हें उपयोगिता लगी, उन्होंने रूचिपूर्वक उन्हें ग्रहण किया। हेमचन्द्र और शुभचन्द्र यद्यपि जैन परम्परा के श्वेताम्बर और दिगम्बर दो भिन्न सम्प्रदायों से सम्बद्ध थे, पर योग के निरूपण में दोनों एक दूसरे से काफी प्रभावित प्रतीत होते हैं।

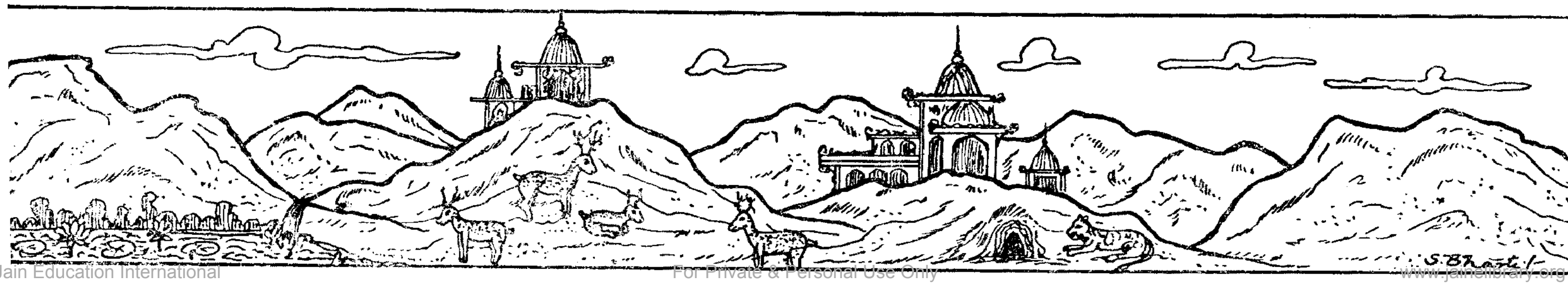

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय यशोविजय, जो अपने समय के बहुत अच्छे विद्वान थे, उन्होंने जैन योग की परम्परा को और अधिक पल्लवित तथा विकसित किया।

पतञ्जलि का अष्टांग योग तथा जैन योग-साधना

"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"[३]—चित्त की वृत्तियों का सम्पूर्णतः निरोध योग है, यह पतञ्जलि की परिभाषा है। वस्तुतः चित्त वृत्तियाँ ही संसार है, बन्धन है। जब तक वृत्तियाँ सर्वथा निरुद्ध नहीं हो पाती, आत्मा को अपना शुद्ध स्वरूप विस्मृत रहता है। उसे मिथ्या सत्य जैसा प्रतीत होता है। यह प्रतीति ध्वस्त हो जाय, आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप अधिगत करले, अथवा दूसरे शब्दों में अविद्या का आवरण क्षीण हो जाय, आत्मा परमात्म-स्वरूप बन जाय यही साधक का चरम ध्येय है। यही बन्धन से छुटकारा है। यही सत्‌चित् आनन्द की प्राप्ति है।

इस स्थिति को पाने के लिए चैतसिक वृत्तियों को सर्वथा रोक देना, मिटा देना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति का मार्ग योग है। महर्षि पतंजलि ने योग के अंगों का निम्नांकित रूप में उल्लेख किया। "यम नियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।"[४] अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणाध्यान तथा समाधि—पतञ्जलि ने योग के ये आठ अंग बताये हैं। इनका अनुष्ठान करने से चैतसिक मल अपगत हो जाता है। फलतः साधक या योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक पहुँच जाता है। दूसरे शब्दों में उसे बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। यही "तदा द्रष्टुः स्वरूपेवस्थानम्"[५] की स्थिति है। तब द्रष्टा केवल अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायिक सम्यक्त्व आदि आत्मा के मूल गुण हैं, जिन्हें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आदि कर्मों ने अवरुद्ध या आवृत्त कर रखा है। आत्मा पर आच्छन्न इन कर्मावरणों के सर्वथा अपाकरण से आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसी परम शुद्ध निरावरण आत्म-दशा का नाम मोक्ष है।

योग-साधना में आचार्य हरिभद्र का मौलिक चिन्तन

आचार्य हरिभद्रसूरि अपने युग के परम प्रतिभाशाली विद्वान् थे। वे बहुश्रुत थे, समन्वयवादी थे, माध्यस्थ वृत्ति के थे। उनकी प्रतिभा उन द्वारा रचित अनुयोग-चतुष्टयविषयक धर्मसंग्रहणी (द्रव्यानुयोग), क्षेत्रसमास-टीका (गणितानुयोग), पञ्चवस्तु, धर्म बिन्दु (चरणकरणानुयोग), समराइच्चकहा (धर्मकथानुयोग) तथा अनेकान्त जय पताका (न्याय) व भारत के तत्कालीन दर्शन आम्नायों से सम्बद्ध षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थों से प्रगट है।

योग के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने लिखा, वह केवल जैन-योग साहित्य में ही नहीं, बल्कि आर्यों की समग्र योग-विषयक चिन्तन-धारा में एक मौलिक वस्तु है। जैन शास्त्रों में आध्यात्मिक विकास-क्रम का वर्णन चतुर्दश गुणस्थान तथा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा—इन आत्म-अवस्थाओं आदि को लेकर किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने उसी अध्यात्म-विकास क्रम को योगरूप में निरूपित किया है। उन्होंने ऐसा करने में जिस शैली का उपयोग किया है, वह संभवतः अब तक उपलब्ध योग विषयक ग्रन्थों में प्राप्त नहीं है। उन्होंने इस क्रम को आठ योग दृष्टियों के रूप में विभक्त किया है। योग दृष्टि समुच्चय में उन्होंने निम्नांकित प्रकार से आठ दृष्टियाँ बताई हैं—

"मित्रा[१] तारा[२] बला[३] दीप्रा[४], स्थिरा[५] कान्ता[६] प्रभा[७] परा[८]।
नामानि योगदृष्टीनां, लक्षणं च निबोधत॥

इन आठ दृष्टियों को आचार्य हरिभद्र ने ओघदृष्टि और योग-दृष्टि के रूप में दो भागों में बाँटा है। ओघ का अर्थ प्रवाह है। प्रवाह-पतित दृष्टि ओघ-दृष्टि है। दूसरे शब्दों में अनादि संसार-प्रवाह में ग्रस्त और उसी में रस लेने वाले भवाभिनन्दी प्रकृत जनों की दृष्टि या लौकिक पदार्थ विषयक सामान्य दर्शन ओघ-दृष्टि है।

योग-दृष्टि ओघ-दृष्टि का प्रतिरूप है। ओघ-दृष्टि जहाँ जागतिक उपलब्धियों को अभिप्रेत मानकर चलती है, वहाँ योग-दृष्टि का प्राप्य केवल बाह्य जगत् ही नहीं आन्तर जगत् भी है। उत्तरोत्तर विकास-पथ पर बढ़ते-बढ़ते अन्ततः केवल आन्तर जगत् ही उसका लक्ष्य रह जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोध ज्योति की तरतमता की दृष्टि से उन्होंने इन आठ[६] दृष्टियों को क्रमशः तृण, गोमय व काष्ठ के अग्नि-कणों के प्रकाश, दीपक के प्रकाश तथा रत्न, तारे, सूर्य एवं चन्द्रमा की आभा से उपमित किया है। इन उपमानों से ज्योति का क्रमिक वैशद्य प्रकट होता है।

यद्यपि इन आरम्भ की चार दृष्टियों का गुणस्थान प्रथम (मिथ्यात्व) है, पर क्रमशः उनमें आत्म-उत्कर्ष और मिथ्यात्व-अपकर्ष बढ़ता जाता है। गुणस्थान की शुद्धिमूलक प्रकर्ष-पराकाष्ठा-तद्‌गत उत्कर्ष की अन्तिम सीमा चौथी दृष्टि में प्राप्त होती हैं। अर्थात् मित्रा आदि चार दृष्टियों में उत्तरोत्तर मिथ्यात्व का परिमाण घटता जाता है और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होते आत्म-परिष्कार रूप गुण का परिमाण बढ़ता जाता है। यों चौथी दृष्टि में मिथ्यात्व की मात्रा कम से कम और शुद्धिमूलक गुण की मात्रा अधिक से अधिक होती है अर्थात् दीप्रा दृष्टि में कम से कम मिथ्यात्व वाला ऊँचे से ऊँचा गुणस्थान होता है। इसके बाद पांचवीं-स्थिरा दृष्टि में मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव होता है। सम्यक्त्व प्रस्फुटित हो जाता है। साधक उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास-पथ पर बढ़ता जाता है। अन्तिम (आठवीं) दृष्टि में अन्तिम (चतुर्दश) गुणस्थान-आत्म—विकास की सर्वोत्कृष्ट स्थिति अयोग केवली के रूप में प्रकट होती है। इन उत्तरवर्ती चार दृष्टियों में योग-साधना का समग्ररूप समाहित हो जाता है।

योगविंशिका में योग की परिभाषा

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत में रचित योगविंशिका नामक अपनी पुस्तक में योग की व्याख्या निम्नांकित रूप में की है—

मोक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेण ॥१॥

संस्कृत छाया—मोक्षेण योजनातो योगः सर्वोपि धर्म-व्यापारः
परिशुद्धो विज्ञेयः स्थानादिगतो विशेषेण ॥

हरिभद्र का आशय यह है कि यह सारा व्यापार-साधानोपक्रम, जो साधक को मोक्ष से जोड़ता है, योग है।

उसका क्रम वे उसी पुस्तक की निम्नांकित गाथा में लिखते हैं—

ठाणुन्नत्थालंबणरहिओ, तंतम्मि पंचहा एसो।
दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ ॥२॥

संस्कृत छाया—स्थानोर्णार्थालम्बन रहितस्तन्त्रेषु पञ्चधा एषः।
द्वयमत्र कर्मयोगस्तथा त्रयं ज्ञानयोगस्तु ॥

स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन और निरालम्बन योग के ये पाँच प्रकार हैं। इनमें पहले दो अर्थात् स्थान और ऊर्ण क्रिया योग के प्रकार हैं और बाकी के तीन ज्ञान योग के प्रकार हैं।

स्थान का अर्थ—आसन, कायोत्सर्ग, ऊर्ण का अर्थ—आत्मा को योग-क्रिया में जोड़ते हुए प्रणव प्रभृति मन्त्र-शब्दों का यथा विधि उच्चारण, अर्थ-ध्यान और समाधि आदि के प्रारम्भ में बोले जाने वाले मन्त्र आदि। तत्सम्बद्ध शास्त्र उनकी व्याख्याएँ—आदि में रहे परमार्थ एवं रहस्य का अनुचिन्तन, आलम्बन—बाह्य प्रतीक का आलम्बन लेकर ध्यान करना, निरालम्बन—मूर्त्तद्रव्य बाह्य प्रतीक के आलम्बन के बिना निर्विकल्प, चिन्मात्र, सच्चिदानन्दस्वरूप का ध्यान करना।

हरिभद्र द्वारा योग विंशिका में दिये गये इस विशेष क्रम के सम्बन्ध में यह इंगित मात्र है, जिस पर विशद गवेषणा की आवश्यकता है।

जैन वाङ्मय में योग-साधना के रूप : आचार्य हेमचन्द्र प्रभृति विद्वानों की देन

आचार्य हेमचन्द्र ने योग की परिभाषा निम्नांकित रूप से की है—

चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञान-श्रद्धान चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ॥[७]

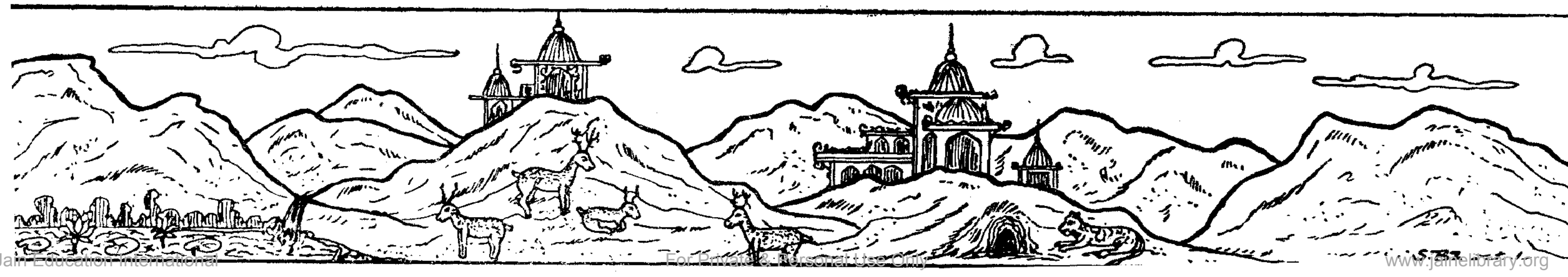

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष अग्रणी या मुख्य है। योग उस (मोक्ष) का कारण है अर्थात् योग-साधना द्वारा मोक्ष लभ्य है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र्य रूप रत्नत्रय ही योग है। ये तीनों जिनसे सधते हैं, वे योग के अंग हैं। उनका आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योग शास्त्र के बारह प्रकाशों में वर्णन किया है।

योग के अंग

महर्षि पतञ्जलि ने योग के जो आठ अंग माने हैं, उनके समकक्ष जैन परम्परा के निम्नांकित तत्त्व रखे जा सकते हैं—

१. यम···	···	महाव्रत
२. नियम···	···	योग-संग्रह
३. आसन···	···	स्थान, काय-क्लेश
४. प्राणायाम····	···	भाव प्राणायाम
५. प्रत्याहार···	····	प्रतिसंलीनता
६. धारणा···	···	धारणा
७. ध्यान···	···	ध्यान
८. समाधि···	···	समाधि

महाव्रतों के वही पाँच नाम हैं, जो यमों के हैं। परिपालन की दृष्टि से महाव्रत के दो रूप होते हैं—महाव्रत, अणुव्रत। अहिंसा आदि का निरपवाद रूप में सम्पूर्ण परिपालन महाव्रत हैं, जिनका अनुसरण श्रमणों के लिए अनिवार्य है। जब उन्हीं का पालन कुछ सीमाओं या अपवादों के साथ किया जाता है, तो वे अणु अपेक्षाकृत छोटे व्रत कहे जाते हैं। स्थानांग (५/१) समवायांग (२५) आवश्यक, आवश्यक निर्युक्ति आदि में इस सम्बन्ध में विवेचन प्राप्त है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय प्रकाश में व्रतों का विस्तृत वर्णन किया है। गृहस्थों द्वारा आत्म-विकास हेतु परिपालनीय अणुव्रतों का वहाँ बड़ा मार्मिक विश्लेषण हुआ है। जैसाकि वर्णन प्राप्त है, आचार्य हेमचन्द्र ने गुर्जरेश्वर कुमारपाल के लिए योग-शास्त्र की रचना की थी। कुमारपाल साधना-परायण जीवन के लिए अति उत्सुक था। राज्य-व्यवस्था देखते हुए भी वह अपने को आत्म-साधना में लगाये रख सके, उसकी यह भावना थी। अतएव गृहस्थ-जीवन में रहते हुए भी आत्म-विकास की ओर अग्रसर हुआ जा सके, इस अभिप्रेत से हेमचन्द्र ने गृहस्थ जीवन को विशेषतः दृष्टि में रखा।

आचार्य हेमचन्द्र ऐसा मानते थे कि गृहस्थ में भी मनुष्य उच्च साधना कर सकता है, ध्यान-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उनके समक्ष उत्तराध्ययन का वह आदर्श था जहाँ **"संति एगेहिं भिक्खूहि गारत्था संजमुत्तरा"** इन शब्दों में त्यागनिष्ठ, संयमोन्मुख गृहस्थों को किन्हीं २ साधुओं से भी उत्कृष्ट बताया है। आचार्य शुभचन्द्र ऐसा नहीं मानते थे। उनका कहना था कि बुद्धिमान और त्याग-सम्पन्न होने पर भी साधक, गृहस्थाश्रम, जो महा दुःखों से भरा है, अत्यन्त निन्दित है, उसमें रहकर प्रमाद पर विजय नहीं पा सकता, चञ्चल मन को वश में नहीं कर सकता। अतः आत्म-शान्ति के लिए महापुरुष गार्हस्थ्य का त्याग ही करते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने तो और भी कड़ाई से कहा कि किसी देश-विशेष और समय विशेष में आकाश-कुसुम और गर्दभ-शृंग का अस्तित्व मिल भी सकता है परन्तु किसी काल और किसी भी देश में गृहस्थाश्रम में रहते हुए ध्यान-सिद्धि अधिगत करना शक्य नहीं है।

आचार्य शुभचन्द्र ने जो यह कहा है, उसके पीछे उनका जो तात्त्विक मन्तव्य है, वह समीक्षात्मक दृष्टि से विवेच्य है।

सापवाद और निरपवाद व्रत-परम्परा तथा पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित यमों के तरतमात्मक रूप पर विशेषतः ऊहापोह किया जाना अपेक्षित है। पतञ्जलि यमों के सार्वभौम रूप को महाव्रत[८] शब्द से अभिहित करते हैं, जो विशेषतः जैन परम्परा से तुलनीय है। योगसूत्र के व्यास-भाष्य में इसका तल-स्पर्शी विवेचन हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियम

यमों के पश्चात् नियम आते हैं। नियम साधक के जीवन में उत्तरोत्तर परिस्कार लाने वाले साधन हैं। समवायांग सूत्र के बत्तीसवें समवाय में योग-संग्रह के नाम से बत्तीस नियमों का उल्लेख है, जो साधक की व्रत-सम्पदा की वृद्धि करने वाले हैं। आचरित अशुभ कर्मों की आलोचना, कष्ट में धर्म-दृढ़ता, स्वावलम्बी, तप, यश की अस्पृहा, अलोभ, तितिक्षा, सरलता, पवित्रता, सम्यक् दृष्टि, विनय, धैर्य, संवेग, माया-शून्यता आदि का उनमें समावेश है।

पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित नियम तथा समवायांग के योग-संग्रह परस्पर तुलनीय हैं। सब में तो नहीं पर, अनेक बातों में इनमें सामंजस्य है। योग-संग्रह में एक ही बात को विस्तार से अनेक शब्दों में कहा गया है। इसका कारण यह है—जैन आगमों में दो प्रकार के अध्येता बताये गये हैं—संक्षेप-रुचि और विस्तार-रुचि। संक्षेप-रुचि अध्येता बहुत थोड़े में बहुत कुछ समझ लेना चाहते हैं और विस्तार-रुचि अध्येता प्रत्येक बात को विस्तार के साथ सुनना-समझना चाहते हैं। योग-संग्रह के बत्तीस भेद इसी विस्तार-रुचि-सापेक्ष निरूपण-शैली के अन्तर्गत आते हैं।

आसन

प्राचीन जैन परम्परा में आसन की जगह 'स्थान' का प्रयोग हुआ है। ओघ निर्युक्ति-भाष्य (१५२) में स्थान के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—ऊर्ध्व-स्थान, निषीदन-स्थान तथा शयन-स्थान।

स्थान का अर्थ गति की निवृत्ति अर्थात् स्थिर रहना है। आसन का शाब्दिक अर्थ है बैठना। पर, वे (आसन) खड़े, बैठे, सोते—तीनों अवस्थाओं में किये जाते हैं। कुछ आसन खड़े होकर करने के हैं, कुछ बैठे हुए और कुछ सोये हुए करने के। इस दृष्टि से आसन शब्द की अपेक्षा स्थान शब्द अधिक अर्थ-सूचक है।

ऊर्ध्व-स्थान—खड़े होकर किये जाने वाले स्थान—आसन ऊर्ध्व-स्थान कहलाते हैं। उनके साधारण, सविचार, सन्निरुद्ध, व्युत्सर्ग, समपाद, एकपाद तथा गृद्धोड्डीन—ये सात भेद हैं।

निषीदन-स्थान—बैठकर किये जाने वाले स्थानों—आसनों को निषीदन-स्थान कहा जाता है। उसके अनेक प्रकार हैं—निषद्या, वीरासन, पद्मासन, उत्कटिकासन, गोदोहिका, मकरमुख, कुक्कुटासन आदि।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में चतुर्थ प्रकाश के अन्तर्गत पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन या गोदोहासन व कायोत्सर्गासन का उल्लेख किया है।

आसन के सम्बन्ध में हेमचन्द्र ने एक विशेष बात कही है—जिस-जिस आसन के प्रयोग से साधक का मन स्थिर बने, उसी आसन का ध्यान के साधन के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए।

हेमचन्द्र के अनुसार अमुक आसनों का ही प्रयोग किया जाय, अमुक का नहीं, ऐसा कोई निबन्धन नहीं है।

पातञ्जल योग के अन्तर्गत तत्सम्बद्ध साहित्य जैसे शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों में आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुम्भक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगांगों का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

काय-क्लेश

जैन-परम्परा में निर्जरा[१०] के बारह भेदों[११] में पाँचवाँ काय-क्लेश है। काय-क्लेश के अन्तर्गत अनेक दैहिक स्थितियाँ भी आती हैं तथा शीत, ताप आदि को समभाव से सहना भी इसमें सम्मिलित है। इस उपक्रम का काय-क्लेश नाम सम्भवतः इसलिए दिया गया है कि दैहिक दृष्टि से जन-साधारण के लिए यह क्लेश कारक है। पर, आत्म-रत साधक, जो देह को अपना नहीं मानता, जो क्षण-क्षण आत्माभिरुचि में संलग्न रहता है, ऐसा करने में कष्ट का अनुभव नहीं करता। औपपातिक सूत्र के बाह्य तपःप्रकरण में तथा दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की सप्तम दशा में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है।

प्राणायाम

जैन आगमों में प्राणायाम के सम्बन्ध में विशेष वर्णन नहीं मिलता। जैन मनीषी, शास्त्रकार इस विषय में उदासीन से प्रतीत होते हैं। ऐसा अनुमान है, आसन और प्राणायाम को उन्होंने योग का बाह्यांग मात्र माना, अन्तरंग

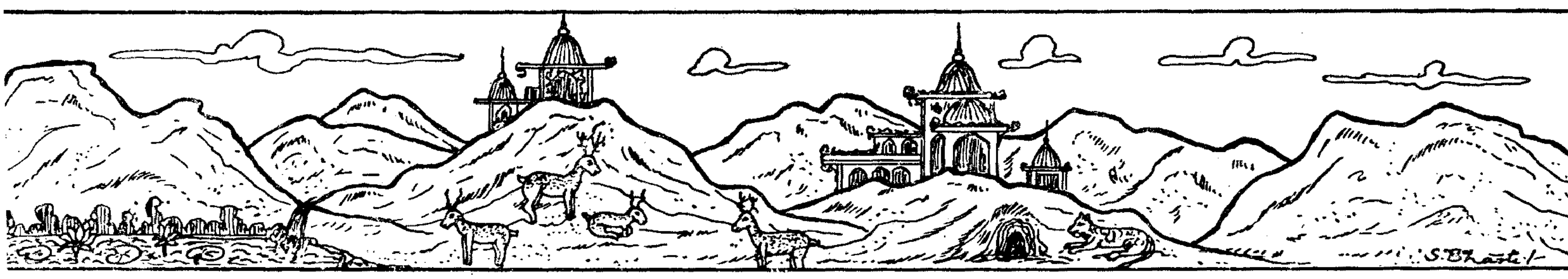

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं। वस्तुतः ये हठयोग के ही मुख्य अंग हो गये। (लगभग छठी शती के पश्चात्) भारत में एक ऐसा समय आया, जब हठयोग का अत्यन्त प्राधान्य हो गया। वह केवल साधन नहीं रहा, साध्य बन गया। तभी तो हम देखते हैं, घेरण्ड-संहिता में आसनों को चौरासी से लेकर चौरासी लाख तक पहुँचा दिया गया।

हठयोग की अतिरंजित स्थिति का खण्डन करते हुए योगवासिष्ठकार ने लिखा है—

इस प्रकार की (चिन्तन-मननात्मक) युक्तियों—उपायों के होते हुए भी जो हठयोग द्वारा अपने मन को नियन्त्रित करना चाहते हैं, वे मानो दीपक को छोड़कर (काले) अंजन से अन्धकार को नष्ट करना चाहते हैं।

जो मूढ हठयोग द्वारा अपने चित्त को जीतने के लिए उद्यत हैं, वे मानो मृणाल-तन्तु से पागल हाथी को बाँध लेना चाहते हैं।"[१२]

आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने प्राणायाम का जो विस्तृत वर्णन किया है, वह हठयोग-परम्परा से प्रभावित प्रतीत होता है।

भाव-प्राणायाम

कुछ जैन विद्वानों ने प्राणायाम को भाव-प्राणायाम के रूप में नई शैली से व्याख्यात किया है। उनके अनुसार बाह्य भाव का त्याग-रेचक, अन्तर्भाव की पूर्णता—पूरक तथा समभाव में स्थिरता कुम्भक है। श्वास प्रश्वास मूलक अभ्यास-क्रम को उन्होंने द्रव्य (बाह्य) प्राणायाम कहा। द्रव्य-प्राणायाम की अपेक्षा भाव-प्राणायाम आत्म-दृष्ट्या अधिक उपयोगी है, ऐसा उनका अभिमत था।

प्रत्याहार

महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्याहार की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना प्रत्याहार है।"[१३]

जैन-परम्परा में निरूपित प्रतिसंलीनता को प्रत्याहार के समकक्ष रखा जा सकता है। प्रतिसंलीनता जैन वाङ्मय का अपना पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—अशुभ प्रवृत्तियों से शरीर, इन्द्रिय तथा मन का संकोच करना। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य अप्रशान्त से अपने को हटाकर प्रशस्त की ओर प्रयाण करना है। प्रतिसंलीनता के निम्नांकित चार भेद हैं—

१. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता—इन्द्रिय-संयम।
२. मनः प्रतिसंलीनता—मनः-संयम।
३. कषाय-प्रतिसंलीनता—कषाय-संयम।
४. उपकरण-प्रतिसंलीनता—उपकरण-संयम।

स्थूल रूपेण प्रत्याहार तथा प्रतिसंलीनता में काफी दूर तक समन्वय प्रतीत होता है। पर दोनों के आभ्यन्तर रूप की सूक्ष्म गवेषणा अपेक्षित है, जिससे तद्गत तत्त्वों का साम्य, सामीप्य अथवा पार्थक्य आदि स्पष्ट हो सकें। औपपातिक सूत्र बाह्य तप अधिकार तथा व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र (२५-७-७) आदि में प्रतिसंलीनता का विवेचन है। निर्युक्ति, चूर्णि तथा टीका-साहित्य में इसका विस्तार है।

धारणा, ध्यान, समाधि

धारणा, ध्यान, समाधि—ये योग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। पातञ्जल व जैन—दोनों योग-परम्पराओं में ये नाम समान रूप में प्राप्त होते हैं। आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र, यशोविजय आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी शैली द्वारा इनका विवेचन किया है।

धारणा के अर्थ में एकाग्र मनःसन्निवेशना शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। धारणा आदि इन तीन अंगों का अत्यधिक महत्त्व इसलिए है कि योगी इन्हीं के सहारे उत्तरोत्तर दैहिकता से छूटता हुआ आत्मोत्कर्ष की उन्नत भूमिका पर आरूढ़

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता जाता है। प्रश्न व्याकरण सूत्र के सम्वर द्वार तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के पच्चीसवें शतक के सप्तम उद्देशक आदि अनेक आगमिक स्थलों में ध्यान आदि का विशद विश्लेषण हुआ है।

महर्षि पतञ्जलि ने बाहर--आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि; शरीर के भीतर नाभिचक्र, हृत्कमल आदि में से किसी एक देश में चित्त-वृत्ति लगाने को धारणा[१४] कहा है। उसमें—ध्येय-वस्तु में वृत्ति की एकतानता अर्थात् उसी वस्तु में चित्त का एकाग्र हो जाना ध्यान[१५] है। जब केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति हो तथा चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाय, तब वह ध्यान समाधि[१६] हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि का यह संक्षिप्त वर्णन है। भाष्यकार व्यास ने इनका बड़ा विस्तृत तथा मार्मिक विवेचन किया है।

आन्तरिक परिष्कृति, आध्यात्मिक विशुद्धि के लिए जैन साधना में भी ध्यान का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर का अन्यान्य विशेषणों के साथ एक विशेषण ध्यान-योगी भी है। आचारांग सूत्र के नवम अध्ययन में जहाँ भगवान महावीर की चर्या का वर्णन है, वहाँ उनकी ध्यानात्मक साधना का भी उल्लेख है। विविध आसनों से विविध प्रकार से, नितान्त असंग भाव से उनके ध्यान करते रहने के अनेक प्रेरक प्रसंग वहाँ वर्णित हैं। एक स्थान पर लिखा गया है कि वे सोलह दिन-रात तक सतत ध्यानशील रहे। अतएव उनकी स्तवना में वहीं पर कहा गया है कि वे अनुत्तर ध्यान के आराधक हैं। उनका ध्यान शंख और इन्दु की भांति परम शुक्ल है।

वास्तव में जैन-परम्परा की जैसी स्थिति आज है, महावीर के समय में सर्वथा वैसी नहीं थी। आज लम्बे उपवास, अनशन आदि पर जितना जोर दिया जाता है, उसकी तुलना के मानसिक एकाग्रता, चैतसिक वृत्तियों का नियन्त्रण, ध्यान, समाधि आदि गौण हो गये हैं। फलतः ध्यान सम्बन्धी अनेक तथ्यों का लोप हो गया है।

स्थानांग सूत्र अध्ययन चार उद्देशक एक, समवायांग सूत्र समवाय चार, आवश्यक-निर्युक्ति कायोत्सर्ग अध्ययन में तथा और भी अनेक आगम-ग्रन्थों में एतत्सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में बिखरी पड़ी है

आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने ध्याता की योग्यता व ध्येय के स्वरूप का विवेचन करते हुए ध्येय को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—यों चार प्रकार का माना है। उन्होंने पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी और तत्त्व भू के नाम से पिण्डस्थ ध्येय की पाँच धारणाएँ बताई हैं, जिनके सम्बन्ध में ऊहापोह की विशेष आवश्यकता है। इसी प्रकार पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का भी उन्होंने विस्तृत विवेचन किया है, जिनका सूक्ष्म अनुशीलन अपेक्षित है।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के सप्तम, अष्टम, नवम, दशम और एकादश प्रकाश में ध्यान का विशद वर्णन है।

धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान, जो आत्म-नैर्मल्य के हेतु हैं, का उक्त आचार्यों (हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र) ने अपने ग्रन्थों में सविस्तार वर्णन किया है। ये दोनों आत्मलक्षी हैं। शुक्ल[१७] ध्यान विशिष्ट ज्ञानी साधकों के होता है। वह अन्तःस्थैर्य्य या आत्म-स्थिरता की पराकाष्ठा की दशा है। धर्म-ध्यान उससे पहले की स्थिति है, वह शुभ मूलक है। जैन-परम्परा में अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीन शब्दों का विशेष रूप से व्यवहार हुआ है। अशुभ पापमूलक, शुभ पुण्यमूलक तथा शुद्ध पाप-पुण्य से अतीत निरावरणात्मक स्थिति है।

धर्म-ध्यान के चार भेद[१८] हैं—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय तथा संस्थान-विचय। स्थानांग, समवायांग, आवश्यक आदि अर्द्धमागधी आगमों में विकीर्ण रूप में इनका वर्णन मिलता है।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान—ये ध्येय हैं। जैसे स्थूल या सूक्ष्म आलम्बन पर चित्त एकाग्र किया जाता है। वैसे ही इन ध्येय विषयों पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। इनके चिन्तन से चित्त की शुद्धि होती है, चित्त निरोध दशा की ओर अग्रसर होता है, इसलिए इनका चिन्तन धर्म-ध्यान कहलाता है।

धर्म-ध्यान चित्त-शुद्धि या चित्त-निरोध का प्रारम्भिक अभ्यास है। शुक्ल-ध्यान में यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है।

मन सहज ही चञ्चल है। विषयों का आलम्बन पाकर वह चञ्चलता बढ़ती जाती है। ध्यान का कार्य उस चंचल एवं भ्रमणशील मन को शेष विषयों से हटा, किसी एक विषय पर स्थिर कर देना है।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है, मन शान्त और निष्प्रकम्प होता जाता है। शुक्ल-ध्यान के अन्तिम चरण में मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध—पूर्ण सम्वर हो जाता है अर्थात् समाधि अवस्था प्राप्त हो जाती है। आचार्य उमास्वाति ने शुक्ल-ध्यान के चार भेद[१९] बतलाये हैं—

१. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार, २. एकत्व-वितर्क-अविचार, ३. सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति, ४. व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति।

आचार्य हेमचन्द्र ने शुक्ल-ध्यान के स्वामी, शुक्ल-ध्यान का क्रम, फल, शुक्ल ध्यान[२०] द्वारा घाति-अघाति कर्मों का अपचय आदि अनेक विषयों का विश्लेषण किया है, जो मननीय है।

जैन परम्परा के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। पूर्वधर–विशिष्ट ज्ञानी मुनि पूर्व श्रुत–विशिष्ट ज्ञान के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन लेकर ध्यान करता है किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय (क्षण-क्षणवर्ती अवस्था विशेष) पर स्थिर नहीं रहता। वह उसके विविध परिणामों पर संचरण करता है—शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर तथा मन, वाणी एवं देह में एक दूसरे की प्रकृति पर संक्रमण करता है—अनेक अपेक्षाओं से चिन्तन करता है। ऐसा करना पृथक्त्ववितर्क-शुक्ल-ध्यान है। शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है, अतः उस अंश में मन की स्थिरता बनी रहती है। इस अपेक्षा से इसे ध्यान कहने में आपत्ति नहीं है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सवितर्क-समापत्ति[२१] (समाधि) का जो वर्णन किया है, वह पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्ल ध्यान से तुलनीय है। वहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण—मिलित समापत्ति-समाधि को सवितर्क-समापत्ति कहा है। इन (पातञ्जल और जैन योग से सम्बद्ध) दोनों की गहराई में जाने से अनेक दार्शनिक तथ्य स्पष्ट होंगे।

पूर्वधर विशिष्ट ज्ञानी पूर्वश्रुत—विशिष्ट ज्ञान के किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण नहीं करता। वैसा ध्यान एकत्व विचार-अवितर्क कहा जाता है। पहले में पृथक्त्व हैं अतः वह सविचार है, दूसरे में एकत्व है अतः वह अविचार है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि पहले में वैचारिक संक्रम है, दूसरे में असंक्रम। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र[२२] में इन्हें पृथक्त्व-श्रुत-सविचार तथा एकत्व-श्रुत अविचार के नाम से अभिहित किया है।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा वर्णित निर्वतर्क-समापत्ति एकत्व-विचार-अवितर्क से तुलनीय है। पतञ्जलि लिखते हैं कि जब स्मृति परिशुद्ध हो जाती है अर्थात् शब्द और प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है, चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्र का। ध्येय मात्र का निर्भास कराने वाली ध्येय मात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने वाली हो, स्वयं स्वरूप-शून्य की तरह बन जाती है, तब वैसी स्थिति निर्वितर्क समापत्ति के नाम से अभिहित होती है।

यह विवेचन स्थूल ध्येय पदार्थों की दृष्टि से है। जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हों, वहाँ उक्त दोनों की संज्ञा सविचार और निर्विचार समाधि[२४] है, ऐसा पतञ्जलि कहते हैं।

निर्विचार-समाधि में अत्यन्त वैशद्य—नैर्मल्य रहता है, अतः योगी को उसमें अध्यात्म-प्रसाद-आत्म-उल्लास प्राप्त होता है। उस समय योगी की प्रज्ञा ऋतम्भरा होती है। ऋतम् का अर्थ सत्य है। वह प्रज्ञा या बुद्धि सत्य को ग्रहण करने वाली होती है। उसमें संशय और शुभ का लेश भी नहीं रहता। उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों के प्रभाव से अन्य संस्कारों का अभाव हो जाता है। अन्ततः ऋतम्भरा प्रज्ञा से जनित संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। यों समस्त संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। फलतः संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से निर्बीज-समाधि-दशा प्राप्त होती है।

इस सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। जैसाकि पहले उल्लेख हुआ है, जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पर जो कर्मावरण छाये हुए हैं, उन्हीं ने उसका शुद्ध स्वरूप आवृत्त कर रखा है। ज्यों-ज्यों उन आवरणों का विलय होता जायेगा, आत्मा की वैभाविक दशा छूटती जायेगी और वह (आत्मा) स्वाभाविक दशा प्राप्त करती जायेगी। आवरणों के अपचय का नाश के जैन दर्शन में तीन क्रम हैं—क्षय, उपशम और क्षयोपशम। किसी कार्मिक आवरण का सर्वथा निर्मूल या नष्ट हो जाना क्षय, अवधि-विशेष के लिए मिट जाना या शान्त हो जाना उपशम तथा कर्म की कतिपय प्रकृतियों का सर्वथा क्षीण हो जाना और कतिपय प्रकृतियों का समय विशेष के लिए शान्त हो जाना क्षयोपशम कहा जाता है। कर्मों के उपशम से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह सबीज है, क्योंकि वहाँ कर्म-बीज का सर्वथा उच्छेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हुआ है, केवल उपशम हुआ है। कार्मिक आवरणों के क्षय से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह निर्बीज है; क्योंकि वहाँ कर्म-बीज सम्पूर्णत: दग्ध हो जाता है। कर्मों के उपशम से प्राप्त उन्नत दशा फिर अवनत दशा में परिवर्तित हो सकती है, पर कर्म-क्षय से प्राप्त उन्नत दशा में ऐसा नहीं होता।

पातञ्जल और जैन योग के इस पहलू पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका ध्यान के साथ विशेष सम्बन्ध है, कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है—शरीर का त्याग—विसर्जन। पर जीते जी शरीर का त्याग कैसे संभव है? यहाँ शरीर के त्याग का अर्थ है शरीर की चंचलता का विसर्जन—शरीर का शिथिलीकरण, शारीरिक ममत्व का विसर्जन—शरीर मेरा है, इस भावना का विसर्जन। ममत्व और प्रवृत्ति मन और शरीर में तनाव पैदा करते हैं। तनाव की स्थिति में ध्यान कैसे हो? अत: मन को शान्त व स्थिर करने के लिए शरीर को शिथिल करना बहुत आवश्यक है। शरीर उतना शिथिल होना चाहिए, जितना किया जा सके। शिथिलीकरण के समय मन पूरा खाली रहे, कोई चिन्तन न हो, जप भी न हो, यह न हो सके तो ओम् आदि का ऐसा स्वर-प्रवाह हो कि बीच में कोई अन्य विकल्प आ ही न सके। उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक-निर्युक्ति, दशवैकालिक-चूर्ण आदि में विकीर्ण रूप में एतत्सम्बन्धी सामग्री प्राप्य है। अमितगति-श्रावकाचार और मूलाचार में कायोत्सर्ग के प्रकार, काल-मान आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। कायोत्सर्ग के काल-मान में उच्छ्वासों की गणना[२५] एक विशेष प्रकार वहाँ वर्णित है, जो मननीय है।

कायोत्सर्ग के प्रसंग में जैन आगमों में विशेष प्रतिमाओं का उल्लेख है। प्रतिमा अभ्यास की एक विशेष दशा है। भद्रा प्रतिमा, महा भद्रा प्रतिमा, सर्वतोभद्रा प्रतिमा तथा महाप्रतिमा में—कायोत्सर्ग की विशेष दशाओं में स्थित होकर भगवान महावीर ने ध्यान किया था, जिनका उन उन आगमिक स्थलों में उल्लेख है, जो महावीर की साधना से सम्बद्ध हैं। स्थानांग सूत्र में सुभद्रा प्रतिमा का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त समाधि-प्रतिमा, उपधान-प्रतिमा, विवेक-प्रतिमा, व्युत्सर्ग-प्रतिमा, क्षुल्लिकामोद-प्रतिमा, यवमध्या प्रतिमा, वज्रमध्या प्रतिमा आदि का भी आगम-साहित्य में उल्लेख मिलता है। पर इनके स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विशेष प्राप्त नहीं है। प्रतीत होता है, यह परम्परा लुप्त हो गई। यह एक गवेषणा-योग्य विषय है।

आलम्बन, अनुप्रेक्षा, भावना

ध्यान को परिपुष्ट करने के लिए जैन आगमों में उनके आलम्बन, अनुप्रेक्षा आदि पर भी विचार किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में इनकी विशेष चर्चा की है। उदाहरणार्थ—उन्होंने शान्ति, मुक्ति, मार्दव तथा आर्जव को शुक्ल-ध्यान का आलम्बन कहा है। अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा, विपरिणाम-अनुप्रेक्षा, अशुभ-अनुप्रेक्षा तथा उपाय-अनुप्रेक्षा में शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं।

ध्यान के लिए अपेक्षित निर्द्वन्द्वता के लिए जैन आगमों में द्वादश भावनाओं का वर्णन है। आचार्य हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि ने भी उनका विवेचन किया है। वे भावनाएँ निम्नांकित हैं—

अनित्य, अशरण, भव, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आस्रव, सम्वर, निर्जरा, धर्म, लोक एवं बोधि-दुर्लभता।

इन भावनाओं के विशेष अभ्यास का जैन परम्परा में एक मनोवैज्ञानिकता पूर्ण व्यवस्थित क्रम रहा है। मानसिक आवेगों को क्षीण करने के लिए भावनाओं के अभ्यास का बड़ा महत्त्व है।

आलम्बन, अनुप्रेक्षा, भावना आदि का जो विस्तृत विवेचन जैन (योग के) आचार्यों ने किया है, उसके पीछे विशेषत: यह अभिप्रेत रहा है कि चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए अपेक्षित निर्मलता, विशदता एवं उज्ज्वलता का अन्तर्मन में उद्भव हो सके।

आचार्य हेमचन्द्र का अनुभूत विवेचन

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र का अन्तिम प्रकाश (अध्याय) उनके अनुभव पर आधृत है। उसका प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"शास्त्र रूपी समुद्र से तथा गुरु-मुख से जो मैंने प्राप्त किया, वह पिछले प्रकाशों (अध्यायों) में मैंने भली-भाँति विवेचित कर ही दिया है। अब, मुझे जो अनुभव से प्राप्त है, वह निर्मल तत्त्व प्रकाशित कर रहा हूँ।[२७]"

इस प्रकाश में उन्होंने मन का विशेष रूप से विश्लेषण किया है। उन्होंने योगाभ्यास के प्रसंग में विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट तथा सुलीन—यों मन के चार भेद किये हैं। उन्होंने अपनी दृष्टि से इनकी विशद व्याख्या की है। योग-शास्त्र का यह अध्याय साधकों के लिए विशेष रूप से अध्येतव्य है।

हेमचन्द्र ने विविध प्रसंगों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, औदासीन्य, उन्मनीभाव, दृष्टि-जय, मनोजय आदि विषयों पर भी अपने विचार उपस्थित किये हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के रूप में आत्मा के जो तीन भेद किये जाते हैं, वे आगमोक्त हैं। विशेषावश्यक भाष्य में उनका सविस्तार वर्णन है।

इस अध्याय में हेमचन्द्र ने और भी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की है, जो यद्यपि संक्षिप्त हैं पर विचार-सामग्री की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

करणीय

योग-दर्शन, साधना और अभ्यास के मार्ग का उद्बोधक है। उसकी वैचारिक पृष्ठ-भूमि या तात्त्विक आधार प्रायः सांख्य दर्शन है। अतएव दोनों को मिलाकर सांख्य-योग कहा जाता है। दोनों का सम्मिलित रूप ही एक समग्र दर्शन बनता है, जो ज्ञान और चर्या जीवन के उभय पक्ष का समाधायक है। सांख्य दर्शन अनेक पुरुषवादी है। पुरुष का आशय यहाँ आत्मा से है। जैन दर्शन के अनुसार भी आत्मा अनेक हैं। जैन दर्शन और सांख्य दर्शन के अनेकात्मवाद पर गवेषणात्मक दृष्टि से गम्भीर परिशीलन वाञ्छनीय है।

इसके अतिरिक्त पातञ्जल योग तथा जैन योग के अनेक ऐसे पहलू हैं, जिन पर गहराई में तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। क्योंकि इन दोनों परम्पराओं में काफी सामंजस्य है। यह सामंजस्य केवल बाह्य है या तत्त्वतः उनमें कोई ऐसी सूक्ष्म आन्तरिक समन्विति भी है, जो उनका सम्बन्ध किसी एक विशेष स्रोत से जोड़ती हो, यह विशेष रूप से गवेषणीय है।

---

१ श्वेताम्बर जैनों का आगम-साहित्य अर्द्धमागधी प्राकृत में है।
२ दिगम्बर जैनों का साहित्य शौरसेनी प्राकृत में है।
३ योगसूत्र १-२
४ योगसूत्र २, २९
५ योगसूत्र १, ३।
६ तृणगोमयकाष्ठाग्निकण दीपप्रभोपमाः।
रत्नतारार्कचन्द्राभाः सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥—योगदृष्टि समुच्चय १५
७ योगशास्त्र १, १५
८ जाति देशकाल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।—योगसूत्र २,३१
९ जायते येन येनेह, विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यानसाधनम् ॥—योगशास्त्र ४-१३४
१० शुभ प्रवृत्ति से होने वाली आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता निर्जरा कहलाती है।
११ १. अनशन, २. अनोदरी (अवमौदर्य), ३. भिक्षाचरी, ४. रस-परित्याग, ५. काय-क्लेश, ६. प्रतिसंलीनता, ७. प्रायश्चित्त, ८. विनय, ९. वैयावृत्त्य (सेवा), १०. स्वाध्याय, ११. ध्यान, १२. कायोत्सर्ग।
१२ सतीषु युक्तिस्वेतासु, हठान्नियमयन्ति ये।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य, विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता, ये हठाच्चेतसो जयम्।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं विसतन्तुभिः ॥ —योगवासिष्ठ उपशम प्रकरण ९, ३७-३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३ स्वविषया सम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।—योगसूत्र २-५४
१४ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।—योगसूत्र ३, १
१५ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।—योगसूत्र ३, २
१६ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।—योगसूत्र ३, ३
१७ शुचं क्लमयतीति शुक्लम्–शोकं ग्लपयतीत्यर्थः ।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १
१८ आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ।—तत्त्वार्थसूत्र ६.३७
१६ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृतीनि ।—तत्त्वार्थसूत्र ६.४१
२० आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले ।
२१ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।—योगसूत्र १.४२
२२ ज्ञेयं नानात्व श्रुतविचारमैक्य श्रुताविचारं च ।
सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्च चतुर्धा तत् ॥ ११.५
२३ स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का ।—योगसूत्र १.४३
२४ एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।—योगसूत्र १.४४
२५ अष्टोत्तरशेतोच्छ्‌वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे ।
सान्ध्ये प्राभातिके वार्ध-मन्यस्तत्सप्तविंशतिः ॥
सप्तविंशतिरुच्छ्‌वासाः संसारोन्मूलनक्षमे ।
सन्ति पञ्च नमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति ॥—अमितिगति श्रावकाचार ६. ६८-६६
२६ श्रुतसिन्धोर्गुरुमुखतो, यदधिगतं तदिह दर्शितं सम्यक् ।
अनुभवसिद्धमिदानीं, प्रकाश्यते तत्त्वमिदममलम् ॥—योगशास्त्र १२·१

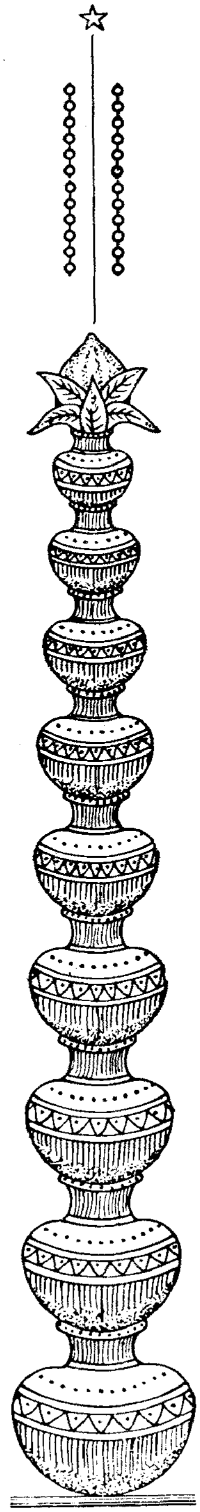

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेर संतोसे ।
सम्मद्दंसण-णाणे तओ य सीलस्स परिवारो ॥

—शीलपाहुड १६

जीव दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप— यह सब शील का परिवार है । अर्थात् शील-सदाचार के अंग हैं ।

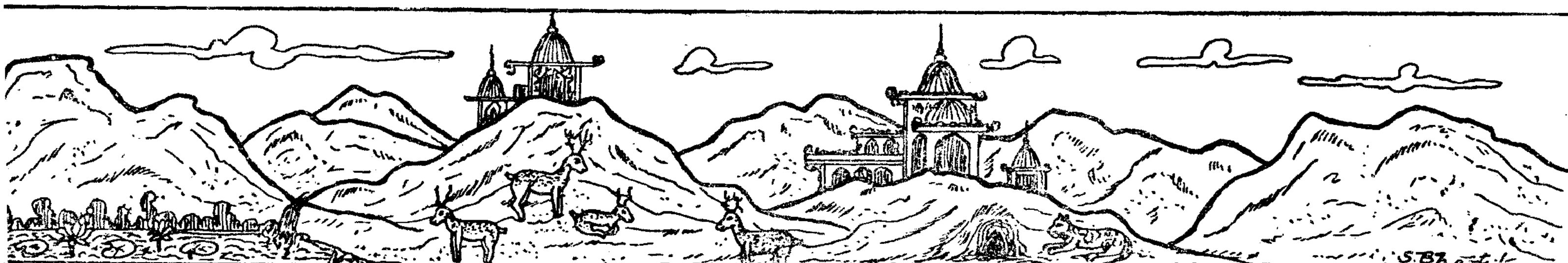

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org